Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

# आश्रम–व्यवस्था : श्रीमद्भागवत महापुराण के आलोक में

**डॉ० उमा शर्मा**
एसोसिएट प्रोफेसर, नानक चन्द ऐंग्लो संस्कृत कॉलेज़, मेरठ

**Article Info**
Volume 4 Issue 5
Page Number: 30-37
**Publication Issue :**
September-October-2021
**Article History**
Accepted : 01 Sep 2021
Published : 30 Sep 2021

**शोध–सारांश–** आधुनिक जीवन–शैली में जो विसंगतियाँ हैं और उनके कारण जो असफलताएँ दृष्टिगत हो रही हैं, उनका कारण आर्ष सिद्धान्तों की अवहेलना ही है। अतः मानव–समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए हमें आश्रम–व्यवस्थागत नियमों का पूर्णतया पालन करना चाहिए, इससे सामाजिक एवं वैयक्तिक उत्कर्ष होता है, ऐसा मेरा अभिमत है।

**मुख्य शब्द–** आश्रम, व्यवस्था, श्रीमद्भागवत, महापुराण, स्मृति, उपनिषद्, धर्म, समाज।

'श्रीमद्भागवत' ने श्रुतियों, स्मृतियों, उपनिषदों, दर्शनों तथा अन्य समग्र शास्त्रों का ज्ञान निहित है। इसमें विविध विद्याओं एवं गूढ दार्शनिक तत्त्वों का समावेश है। अतः शास्त्रज्ञ, पद–वाक्य–प्रमाणज्ञ तथा विद्यावदात चित्त वाले लोग ही भागवत–तत्त्वार्थ–अवगम में समर्थ होते हैं, अन्य सामान्य प्रज्ञा वाले लोग नहीं। वस्तुतः भागवत में भगवतवविद् तथा विविध–विद्या–विशारद् विद्वानों की विद्वत्ता परीक्षित होती है। अतः समालोचकों की यह उक्ति– ''विद्यावतां भागवते परीक्षा'' सार्थकता को धारण करती है।

भारतवर्ष एक धर्मपरायण देश है। भारतीय ऋषियों एवं धर्म–विचारकों ने धर्म एवं धर्म–व्यवस्था के परिपालन के लिए विविध प्रकार के नियमों का निर्धारण किया है। भगवान्, 'मनु' के– **''स्वं–स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।''**[1] कथन से यही संकेत मिलता है, तथा धर्म की विविध परिभाषाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसके साथ ही पुरुषार्थ–चतुष्ट्य की प्राप्ति के लिए भी धर्म का पालन अनिवार्य बताया है। वे कहते हैं–

**यः कश्चिद् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।**

**स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।**[2]

यहाँ उल्लेखनीय है कि 'मनु' ने धर्म–पालन के लिए वर्ण एवं आश्रम– व्यवस्था का निर्धारण किया है। वेदों में मनुष्य को शतायु मानकर आश्रमों की व्यवस्था की गई। वैदिक ऋषियों ने मनुष्य के लिए स्वस्थ रहकर सौ वर्ष जीने की कामना की है।[3] 'मनु' ने भी मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर इसका चार भागों में विभाजन किया है। उनके अनुसार जीवन का प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य हैं ततः गृहस्थाश्रम; इसके पश्चात् वानप्रस्थ एवं अन्त में सन्यास आश्रम का विवेचन किया गया है। जहाँ मनु तथा याज्ञवल्क्यादि ने इसकी

**Copyright: ©** the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

अनिवार्यता निश्चित की है, वहीं पुरुषार्थ–चतुष्टय की प्राप्ति के लिए भगवान वेद–व्यासकृत 'श्रीमद्भागवत' में भी नारदमुखेन आश्रम–व्यवस्था का सुविशद् वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत में युधिष्ठिर द्वारा नारद जी ने धर्म एवं आश्रम–व्यवस्था के सन्दर्भ में जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर[4] उनकी जिज्ञासा–पूर्ति हेतु आश्रम–धर्म एवं व्यवस्था का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है–

**ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।**

**आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः।।**[5]

अर्थात् गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए अनुशासन तथा गुरु के प्रति श्रद्धा की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है। यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि मौन रहकर गायत्री का अध्ययन करें तथा गुर्वाज्ञा से उनके निकट आकर विनीत भाव से उनके चरण–स्पर्श करके वेदाध्ययन करना चाहिए तथा अध्ययन सम्पन्न हो जाने पर भी गुरु के चरण–स्पर्श करने चाहिए।[6] ऐसा करने से ब्रह्मचारी के बौद्धिक बल में अभिवृद्धि होती है। जैसा कि गीता में कहा गया है– ''श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।''[7] 'मनुस्मृति' के अनुसार भी गुरु के समक्ष अनुशासित तथा उनके प्रति श्रद्धालु एवं अभिवादनशील रहना चाहिए।[8] इससे यह विदित होता है कि ऋषि ने अन्य शास्त्रों में उपदिष्ट 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' के उपदेश को याद रखा है। उनका यह भाव रहा है कि ब्रह्मचारी शास्त्राज्ञानुसार वेशभूषा धारण करें तथा गुर्वाज्ञा से ही भोजन करें। यदि गुर्वाज्ञा न हो तो उपवास रख ले।[9] यहाँ ब्रह्मचारी के लिए मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथ में कुशा धारण करने का निर्देश है।[10] 'मनु' ने भी यही निर्देश दिया है। ब्रह्मचारी अपने कर्त्तव्य के प्रति प्रमादी न हो, निष्ठापूर्वक स्वाध्याय करे, इसके लिए उन्हें अल्पाहारी होने का निर्देश दिया है तथा शीलरक्षार्थ स्त्रियों तथा स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों साथ ही स्त्री–विषयक चर्चाओं से भी दूर रहने तथा एकान्त में तो अपनी कन्या के साथ भी आवश्यकता से अधिक न रहने को विधान किया गया क्योंकि ग्राह संयमी–साधकों को भी अपना ग्रास बनाने का सामर्थ्य रखता है।[11] इसी भाव के साथ मनुस्मृतिकार ने भी ब्रह्मचारी के लिए माता, बहिन तथा पुत्री के साथ एकान्त में बैठना वर्जित माना है।[12]

सौन्दर्याभिवृद्धि के कारण आकर्षणोत्पादक प्रसाधन–सामग्री का प्रयोग तथा आभूषण एवं स्त्रियों को चित्रित करना ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि इस निर्देश के व्याज से ब्रह्मचारी को शक्ति तथा समय का अपव्यय न करके स्वाध्याय के प्रति सावधान करना चाहता है जिससे ब्रह्मचर्याश्रम के वेदाध्ययन तथा उनके अवगम–रूप लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सके।[13] मनुस्मृतिकार ने भी प्रसाधन–सामग्री के प्रयोग को वर्जित माना है।[14]

उपर्युक्त कतिपय नियम वेद–व्यास जी ने ब्रह्मचारी गृहस्थ तथा सन्यासी तीनों के लिए समन्वित रूपेण सुनिश्चित किये हैं किन्तु गुरु के सान्निध्य में रहने की अनिवार्यता केवल ब्रह्मचारी के लिए है। श्रीमद्भागवतकार ने ब्रह्मचर्याश्रम के बाद किसी भी आश्रम में प्रविष्ट होने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए यथासामर्थ्य गुरुदक्षिणा का प्रावधान किया है जबकि अन्य ग्रन्थों में भी यही कहा गया है– **''रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्।''**[15] इस प्रकार के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति विशेष ज्ञान सम्पन्न होकर

परब्रह्म तत्त्व का अनुभव कर लेता है।[16] 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार भी शास्त्रोक्त विधि से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[17]

**गृहस्थाश्रम–** ब्रह्मचर्याश्रम के बाद यह धर्म–कर्मप्रधान आश्रम प्रारम्भ होता है, जिसका मूल गृहस्थ जीवन ही है। 'गृहस्थ' शब्द गृह + स्था + क (सुपि स्थः इति क) करके निष्पन्न होता है।[18] गृहस्थाश्रम की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है– **"गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः"** (गृहस्थानम्–290)[19] मीमांसा शास्त्र का **"अथातो धर्म जिज्ञासा"** सूत्र भी गृहस्थ के कर्त्तव्य कर्मों की ही प्रेरणा देता है। 'ऋग्वेद' का– **"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।"** मन्त्र भी गृहस्थ धर्म की महत्ता प्रतिपादित करता है।[20] इस सन्दर्भ में 'मनु' का यह कथन भी चिन्तनीय है कि गृहस्थ धर्म का आधार पुत्र–प्राप्ति ही है। श्रीमद्भागवत में कर्दम प्रजापति की पत्नी देवहुति चित्तगत विकारों के त्यागपूर्वक, विश्वास, पवित्रता, संयम, शुश्रूषा, मधुर भाषणादि गुणों के माध्यम से अपने पति को सन्तुष्ट करके पुत्र–प्राप्ति के लिए निवेदन करती है।[21] बौधायन धर्मसूत्रकार के मत में भी त्रिविध ऋण से मुक्ति का आधार पुत्र को ही माना है।[22] 'मनु' ने गृहस्थ के लिए पाँच प्रकार के यज्ञों का विधान किया है–

**"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।**

**हौमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।"**[23]

अस्तु, चारों आश्रमों में 'गृहस्थ' ही सर्वोपरि है। 'भागवत' में युधिष्ठिर द्वारा गृहस्थ के लिए करणीय–कर्म–विषयक जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर नारद जी का कथन इस प्रकार है– गृहस्थ अनासक्त भाव से अपने समस्त कृतकार्यों को भगवान् को समर्पित करके साधु सन्तों की सेवा करे।[24] अनासक्त भाव से शुद्ध–बुद्धिपूर्वक माता–पिता आदि गुरुजन की आज्ञा का अनुसरण करते हुए प्रारब्ध के अनुसार उपलब्ध धनादि का उपभोग करे। ऋषि मनुष्यों का अधिकार केवल बुभुक्षा शान्त्यर्थ धनों पर ही माना है।[25] साथ ही यह निर्दिष्ट किया है कि अतिथि को देवमय मानकर स्वयं उसकी सेवा में रत रहे तथा पत्नी को भी निर्दोष सेवा में लगाये तथा पञ्चयज्ञविशिष्ट अन्न से ही अपना जीवन–निर्वाह करे। इस प्रकार किसी वस्तु में स्वत्व न रखता हुआ गृहस्थ सन्तों का पद प्राप्त करता है।[26] ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा–भाव व्यक्त करते हुए वेद–व्यास जी ने नारदमुखेन कहलवाया है कि यद्यपि यज्ञों के भोक्ता भगवान् स्वयं ही हैं, पुनरपि ब्राह्मण–मुख में अर्पित किये गये हविष्यान्न से उनकी जैसी तृप्ति होती है वैसी अग्नि के मुख में अर्पित करने से नहीं,[27] अतः गृहस्थ के लिए ब्राह्मण पूज्य है। पुण्य कर्म–विधान के लिए ऋषि ने गंगा पुष्करादि सरोवर सिद्ध पुरुषों द्वारा सेवित कुरुक्षेत्र प्रदेश, समस्त कुलपर्वत तथा भगवान् के अर्चावतार–स्थल आदि का उल्लेख किया है। इन स्थानों पर जो पुण्य कर्म किये जाते हैं उनका हजारगुना फल मिलता है।[28] अग्रपूजा के पात्र निर्णय के प्रसंग में भगवान कृष्ण को ही चराचर जगत् का स्वरूप बताते हुए कृष्ण–पूजा में ही समन्वितरूपेण सभी पूजा स्वीकार की गई है। भगवान् के पर्याय के रूप में सांख्यगत पुरुष का भी स्मरण किया गया है क्योंकि उसके मत में मनुष्य श्रेष्ठ पात्र है और मनुष्यों से भी तप–योगादि करने वाला गृहस्थ–ब्राह्मण श्रेष्ठ है क्योंकि भगवान् कृष्ण के भी इष्टदेव ब्राह्मण हैं जिनकी चरणधूलि से तीनों, लोक पवित्र होते हैं।[29] देवकार्य और पितृकार्य को गृहस्थ के मोक्ष–साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। श्राद्ध अथवा देवपूजा के साथ–साथ कर्त्तव्य–कर्म को भी यज्ञ–रूप में माना है तथा यह भी माना है कि जो सद्धर्म–पालन की

अभिलाषा रखते हैं उनके लिए इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। किसी भी प्राणी को मन, वाणी और कर्म से कष्ट न दिया जाये।[30] ऋषि ने अधर्म की पाँच शाखाओं (विमर्ध, परधर्म, आभास, उपमा और छल) का त्याग करना अपेक्षित बताया है।[31] ऋषि ने धन–प्राप्ति के प्रति निःस्पृहता की अपेक्षा बताते हुए रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वशीभूत होना श्वानवृत्ति मानी है। गुरुभक्ति को दोषों पर विजय–प्राप्ति का साधन बताया है।[32] भगवान् ही साक्षात् गुरु–रूप हैं। मन को आकृष्ट सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान वृत्तियों से बचने के उपाय के रूप में गुरु–सेवा को महत्त्व दिया गया है। प्रवृत्तिपरक तथा निवृत्तिपरक दो प्रकार वैदिक कर्मों का विश्लेषण करते हुए निवृत्तिपरक कर्मों को भक्तिमार्ग या परमात्मा की प्राप्ति का साधक बताया है। ऋषि ने पितृयान तथा देवयान दोनों मार्गों को भी वेदोक्त मार्ग माना है।[33] इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि विचारशील पुरुष स्वानुभूति से आत्मा के विविध अद्वैत का साक्षात्कार करते हैं, जो निम्न हैं– भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत।[34]

उपर्युक्त अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि गृहस्थ–धर्म ही सभी धर्मों से महनीय धर्म है और इसकी महनीयता तत्, तत् नियमों के परिपालन में ही निहित है। वस्तुतः यदि भगवान् में निर्दिष्ट आश्रम–व्यवस्था को अपने जीवन में चरितार्थ कर लें तो गृहस्थ होते हुए भी हम सम्बन्ध रूप में रह सकेंगे और मानव के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

**वानप्रस्थाश्रम–** श्रीमद्भागवत् में वेद–व्यास जी ने नारद जी से वानप्रस्थ आश्रम की महत्ता का वर्णन इस प्रकार कराया है–

**वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान्।**

**यानातिष्ठन् मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा।।**[35]

सर्वप्रथम ऋषि ने अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण तथा अपेय पदार्थों के सेवन को निषिद्ध किया है। वानप्रस्थी को केवल सूर्य के आतप से पक्व कन्द–मूल–फलादि का ही सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कृष्ट भूमि में उत्पन्न गेहूँ चावल तथा अकृष्ट भूमि में भी असमय में उगे हुए अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए।[36] अरण्यों में स्वयं प्रभूत धान्यों से नित्य–नैमित्तिक चरु और पुरोडाश का हवन करें। नये अन्न, फल–फूल उपलब्ध हो जाने पर सञ्चित अन्न इत्यादि का त्याग कर दें। अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा के लिए घर, पर्णकुटी अथवा पर्वतीय गुफा का आश्रय ग्रहण करें, स्वयं शीत–ताप–वर्षादि को सहन करें।[37] वानप्रस्थों को प्रवृद्ध नख, केश, श्मश्रु इत्यादि का कर्तन नहीं करना चाहिए तथा शरीर को मलरहित भी नहीं करना चाहिए। वेदों में वानप्रस्थ के लिए यति एवं मुनि शब्द का प्रयोग किया गया है। 'ऋग्वेद' में प्राणायाम के अभ्यासी को मुनि कहा है।[38] ऋषि का निर्देश है कि वानप्रस्थावस्था मनुष्य यथासामर्थ्य बारह, आठ, चार, दो या एक वर्ष तक तप करें, ऐसा न हो कि तपाधिक्य से बुद्धि विकृत हो जाये।[39] यदि वानप्रस्थी रोगाक्रान्त होने अथवा अथवा वार्धक्य के कारण कर्म–सम्पादन में तथा वेदान्त–विचार करने में स्वयं को असमर्थ समझे तो अनशनादि व्रत करें तथा एतद्पूर्व अपनी आह्वनीय आदि अग्नियों को अपनी आत्मा में लीन कर लें। अहं का भाव त्यागकर भौतिक शरीर को उसके कारणभूत तत्त्वों में यथायोग्य भलीभाँति लीन कर लें।[40]

उपर्युक्त से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि वेद–व्यास को सविधि साधना ही अभीष्ट है। योगसाधना के द्वारा समस्त कार्य स्व–स्वहेतुओं में लीन होते हुए भी अव्यक्त तत्त्व भी परमात्मा में लीन हो जाता है। इस

प्रकार अविनाशी परमात्मा के रूप में अवशिष्ट जो चिद्वस्तु है, वह आत्मा है, वह मैं हूँ–यह जानकर अद्वितीय भाव में स्थित हो जाये। जैसे अपने आश्रय काष्ठादि के भस्म हो जाने पर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही साधक भी शान्त हो जाये–

**इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।**

**ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः।।**[41]

**संन्यासाश्रम–** नारद जी के मुख से श्री वेद–व्यास जी ने कहलवाया है कि यदि वानप्रस्थी में ब्रह्मविचार का सामर्थ्य हो तो 'सन्यास' आश्रम ग्रहण करें तथा अत्यन्तावश्यक (कौपीनादि) वस्त्रों के अतिश्रिक्त सर्वस्व त्यागकर एक से दूसरे स्थान पर विचरण करें तथा एक गाँव में एक रात्रि से अधिक निवास न करे।[42] व्यक्त सामग्री में से कुछ भी ग्रहण न करे। सर्वजन हिताय चिन्तन करे तथा किसी के आश्रित न रहता हुआ भगवत् भजन करे।[43] सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा में अध्यस्त और कार्य–कारण–स्वरूप इस जगत् में ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मा को परिपूर्ण देखें।[44] ऋषि ने मोक्ष को भी मायाजन्य बन्धन माना है–

**''पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः।''**[45]

अतः सन्यासी को मृत्यु और जीवन–विषयक चिन्तन से विमुख रहकर समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश के हेतुभूत काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[46] असत् का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र के अध्ययन, वाद–विवाद–विषयक तर्क, किसी का भी पक्ष ग्रहण करना, शिष्यों का सम्मर्द इकट्ठा करना, अधिक ग्रन्थों का अभ्यास, व्याख्यान देना, बड़े कार्यों का प्रारम्भ इन सबसे विमुख रहना चाहिए, क्योंकि इसमें समय और शक्ति का अपव्यय होता है। संन्यासी अपने व्यक्तित्व में कोई वैशिष्ट्य न दर्शाये। सबको सामान्य दिखाई दे।[47] आत्मविश्लेषण का निर्देश देते हुए उन्होंने नारदमुखेन भक्त प्रह्लाद तथा मुनि दत्तात्रेय का दृष्टान्त दिया है। दत्तात्रेय मुनि अत्यन्त सामान्य तथा हृष्ट, पुष्ट दिखाई देते थे। पूछे जाने पर उन्होंने आत्म–सन्तोष तथा तृष्णारहित होना इसका कारण बताया है, साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि कर्मवश अनेक योनियों में भटकते हुए दैववश मनुष्य–योनि मिलती है, जिसमें कर्म करने का अवसर मिलता है, जिन कर्मों के अनुसार स्वर्ग, अपवर्ग, तिर्यग्योनि अथवा पुनः मानव–योनि प्राप्त हो सकती है।[48] परन्तु दृष्टिगत यह हो रहा है कि स्त्री–पुरुषों द्वारा दुःख–निवृत्ति एवं सुख–प्राप्ति के लिए कर्म किए जाने पर भी उन्हें दुःख की प्राप्ति होती है, अतः मैं कर्मों से विमुख हो गया हूँ। इसके साथ ही मुनि दत्तात्रेय ने सुख को ही आत्मा का स्वरूप तथा समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति को उसका शरीर तथा प्रकाशित होने का स्थान एवं समस्त भोगों का अस्तित्व मन की प्रसन्नता मात्र बताया।[49] परन्तु मनुष्य सुख का अन्वेषण आत्मा में न करके विषयों में करता है ठीक उसी प्रकार जैसे जल के सेवार से ढक जाने पर व्यक्ति जल की खोज में अन्यत्र दौड़ता है। ऋषि कहते हैं कि त्रिविध दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए भौतिक–साधन जुटाने में शक्ति का अपव्यय करने से लक्ष्य पूरा नहीं होता बल्कि उन अर्जित भौतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु मानसिक तनाव बढ़ा रहने के कारण दुःख बढ़ता ही है। अतः सुख–स्वरूप आत्मा का अन्वेषण ही अपेक्षित है।[50] इस प्रकार ऋषि ने दत्तात्रेय के कथानक के माध्यम से अपने चिन्तन को इस रूप में अभिव्यक्त किया है कि सत्य के अनुसन्धाता को चाहिए कि भेद–विभेद युक्त नाना पदार्थों को इनके विषय में भ्रम उत्पन्न करने वाले मन में

मन को, सात्त्विक अहंकार में अहंकार को महत् तत्त्व के द्वारा माया में हवन कर दें, क्योंकि माया ही इन सबका कारण है। अन्त में माया को आत्मानुभूति में स्वाहा कर दे।[51]

निष्कर्षतः वर्तमान में जो विषमताएँ हैं, आधुनिक जीवन–शैली में जो विसंगतियाँ हैं और उनके कारण जो असफलताएँ दृष्टिगत हो रही हैं, उनका कारण आर्ष सिद्धान्तों की अवहेलना ही है। अतः मानव–समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए हमें आश्रम–व्यवस्थागत नियमों का पूर्णतया पालन करना चाहिए, इससे सामाजिक एवं वैयक्तिक उत्कर्ष होता है, ऐसा मेरा अभिमत है।

## सन्दर्भ–


1. मनुस्मृति 2/20
2. मनुस्मृति 2/7
3. पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्–यजुर्वेद, 36/14
4. भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मंसनातनम्।
   वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्।। श्रीमद्भागवत 7/11/2
5. श्रीमद्भागवत 7/12/1
6. छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।
   उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्।।श्रीमद्भागवत 7/12/3
7. श्रीमद्भगवदगीता 4/39
8. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
   संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः।। मनुस्मृति 2/71
9. सायं प्रातश्चरेद् भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
   भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचिद्।। श्रीमद्भागवत 7/12/5
10. वही 7/12/4
11. सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
    यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च।।
    वर्जयेत् प्रमदागाथाम्गृहस्थो बृहद्व्रतः।
    इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः।। श्रीमद्भागवत 7/12/6–9
12. मनु 2/215
13. उषित्वैव गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।
    त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम्।। श्रीमद्भागवत 7/12/13
14. मनुस्मृति 2/178
15. विक्रमचरित 115

16. श्रीमद्भागवत 7/12/16

17. अनेन विधिना देहं साधयन्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेह जायते पुनः।। याज्ञवल्क्यस्मृति 2/49, 50

18. हलायुध कोश, पृष्ठ 280

19. वही

20. ऋग्वेद 10/85/36

21. यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो।
भूयाद् गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम्।। श्रीमद्भागवत 3/23/10

22. बौधायन धर्मसूत्र 2/9/7

23. मनुस्मृति 3/70

24. गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्।। श्रीमद्भागवत 7/14/2

25. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। वही 7/14/8

26. सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात्।। वही 7/14/14

27. नहि अग्निमुखोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः।। वही 7/14/17

28. वही 7/14/33

29. पुरुषेष्वपि ..... पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्।। वही 7/14/41–42

30. नैतादृशः परो _____ मनोवाक्कायजस्य यः।। वही 7/15/8

31. वही 7/15/12.13

32. कृपया _____ गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।। वही 7/15/24.25

33. य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते। वही 7/15/56

34. भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः। वही 7/15/62

35. वही 7/12/17

36. वही 7/12/18

37. वही 7/12/19.20

38. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला। ऋ० 10/136/2

39. चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।

द्वावेकं वा यथाबुद्धिर्न विपद्यते कृच्छृतः।। वही 7/12/22

40. यदाकल्पः स्वक्रियायां _____ क्षितौ शेषं यथोद्भवम्।। वही 7/12/23–27

41. वही 7/12/31

42. कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः।
ग्रामैकरात्रविधिनां निरपेक्षश्चरेन्महीम्।। वही 7/13/1

43. एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः।। वही 7/13/3

44. वही 7/13/4

45. वही 7/13/5

46. वही 7/13/6

47. वही 7/13/7–9

48. यदृच्छया लोकमिमं प्रापितःकर्मभिर्भ्रमन्।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च।। वही 7/13/24

49. सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।
मनः सस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन्।। वही 7/13/26

50. वही 7/13/30–32

51. वही 7/13/33